Academe-Journal of Education & Psychology ISSN: 2249-040X
Volume-15, Issue-2, Year-2025 (July-December) Peer Reviewed & Refereed Journal (IF: 6.25)
PP: 532-540 Journal Website www.academejournal.in

"विज्ञप्तिमात्रता "सिद्धि हेतु बाहयार्थ का खण्डन : विज्ञानवाद के विशेष संदर्भ में

डॉ. सिपु जायसवाल

एसोसिएट प्रोफेसर

दर्शनशास्त्र विभाग जानकी देवी मेमोरियल कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय

दार्शनिक परंपरा में पूर्वमान्यताओं पर आलोचना ही दार्शनिक विचारों के विकास की अविराम श्रृंखला है। जीवन और जगत की अविराम गति की भाँति यह निरंतर प्रवाहित धारा है। जैसे अगाध अपनी तरंगों की गति से विस्तार लेता है, उसी प्रकार आलोचनाओं – प्रत्यालोचनाओं रूपी वैचारिक धाराओं से दर्शन पल्लवित व पुष्पित होता है। स्थूल जगत अपनी सत्ता से सदैव मानव माहितष्क को चुनौती देता रहता है। मानव मन–मस्तिष्क जहाँ कोमल व सूक्ष्म हैं वहीं स्थूल जगत अत्यंत कठोर व स्थूल। ऐसे में किसकी सत्ता किस पर निर्भर मानी जाए।

अग्नि और जल की भाँति विपरीत स्वभाव धारण करने के कारण इसका साथ–साथ सत्य होना हमारे चिन्तन को व्याप्त नहीं करता। संभवतः चिंतन की इसी जिज्ञासा ने विज्ञानवादियों को 'चित्तमात्रता' या विज्ञप्ति मात्रता के ऊपर बल देने को प्रेरित किया होगा। इस विचारधारा ने साक्ष्य भी अत्यंत प्रभावशाली रखा। सर्वप्रथम तो भगवान बुद्ध के परमार्थ समुद्रगत परिपृच्छा[1] ही विज्ञानवादियों का मूलाधार है। विज्ञानवायिों ने भगवान बुद्ध द्वारा स्थापित धर्मों की निःस्वभावता को अनेक शक्तिशाली प्रमाणों द्ववारा रखा।

विज्ञानवाद का प्रारम्भ ही यहीं से होता हैः परमार्थ समुद्रगत के प्रश्न :– कि भगवान ने पाँच स्कन्धों से लेकर द्वादश आयतनों तक को स्वलक्षणतः हेय एवं ज्ञेय स्वलक्षणतः उत्पत्ति एवं विनाश भी कहा है। इसका अभिप्राय क्या है?

इन्ही प्रश्नों के उत्तर में विज्ञानवादी ने भगवान बुद्ध की धारणा करके अपने विचारों की व्याख्या की है। तथा हेय – ज्ञेय, उत्पत्ति – विनाश आदि को संवृत्ति सत्य या व्यवहारिक सत्य बताते हुए विज्ञप्ति या चित्त मात्र की स्थापना की। इसलिए सर्वप्रथम स्थूल व अडिग दिखने वाले 'वस्तुसत्य' का खण्डन किया। मात्र विज्ञप्ति की स्थापना में बाह्यर्थता का स्वाभाविक रूप से विरोध दिखता है।

प्रस्तुत लेख का विषय, वस्तुवादियों द्ववारा बाह्यर्थता भी सिद्धि में रखे गये पक्षों का विज्ञानवादियों के सुद्ध तर्कों द्वारा खण्डन पर एक संक्षिप्त चर्चा है! जिसका आधार आचार्य 'वसुबन्धु' द्वारा कृत 'विज्ञातिमात्रता सिद्धि' है। इस ग्रन्थ के दो भाग है, 'विंशतिका' व 'त्रिंशिका ! उपरोक्त विषय पर विस्तृत विवेचना विशंतिका में हुआ है। जिसमें पुष्ठ एवं दृढ़ युक्तियों द्वारा वस्तुवाद का खण्डन हुआ है। वर्तमान लेख का उददेश्य इन्हीं युक्तियों की तार्किक समीक्षा है। प्रारम्भ में विज्ञानवादी परम्पराः की संक्षिप्त चर्चा आवश्यक है। तभी विज्ञानवाद के मूल को समझने में सुविधा होगी।

सौभान्तिकों के अनुसार बाल्यार्थ भी सत्ता ज्ञान के दवारा अनुमेय है। हमें बाल्यार्थ की प्रतीति होती है। अतः हमें बाल्यार्थ की सत्ता का अनुमान होता है। इसलिए ज्ञान के द्ववारा ही बाह्य पदार्थों के अस्तित्व का परिचय हमें मिलता है। विज्ञानवादी एक कदम आगे बढ़ कर कहते हैं कि "यदि बाहयार्थ की सत्ता, ज्ञान पर अवलम्बित है तो ज्ञान ही वास्तविक सत्ता है।" जिसे हम बाह्य पदार्थों के नाम से जानते हैं, अनुभव करते हैं उसका विश्लेषण करें तो वहाँ आँख से देखे गये रंग, आकार, हाथ से हुए कक्षता, चिक्कणता, आदि गुण ही मिलते हैं। इनके अतिरिक्त या इनसे अलग किसी वस्तु – स्वभाव का परिचय

[1] विज्ञप्तिभानतासिद्धि प्रकरण दयम, वाराणसी सं. वि., प्र. 7.

© Copyright @ Authors

हमें नहीं मिलता। प्रत्येक वस्तु के देखने पर हमें नीला, पीला, रंग तथा लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई आदि को छोड़कर केवल रूप – भौतिक तत्व दिखलाई नहीं पड़ता। बाह्य पदार्थ का ज्ञान में किसी तरह से नहीं हो सकता। यदि बाह्य पदार्थ अनुण – रूप है तो उसका ज्ञान नहीं हो सकता। यदि वह संघात रूप है तो भी उसका ज्ञान असंभव है। क्योंकि संघात पदार्थ के प्रत्येक अंग प्रत्यंग का एक कालिक ज्ञान संभव नहीं हो सकता। ऐसी दशा में हम बाह्यार्थ की सत्ता किस प्रकार मान सकते हैं। अतः सत्ता केवल एक ही पदार्थ की है और वह है 'विज्ञान', 'चित्त' या 'विज्ञाप्ति' ।

विषय से निरपेक्ष विज्ञान मात्र को सत्य मानने पर सामान्यतः चार प्रश्न उठते हैं। यथा– यदि बाह्यार्थ नहीं है तो –

(1) देश नियम

(2) कालनियम

(3) ज्ञातृ सन्तान के अनियम तथा

(4) क्रिया सम्पादन संबंधी नियमों का निर्वाह कैसे होता है? यह किसी भी जिज्ञासु के मन को उद्वेलित कर देता है और अन्त में प्रत्यक्ष से संबधित प्रश्न भी बाह्यर्थता के संबंध में महत्त्वपूर्ण है। विज्ञप्ति मात्रता सिष्ठि में यद्यपि कई और प्रश्न यथा आयतन, हिंसा आदि के हैं। परंतु इसकी व्याख्या अत्यन्त विस्तृत है। इस लेख कि अपेक्षा उपरोक्त प्रश्नों से ही है।

'विज्ञप्तिमाव' में 'मात्र' पद का प्रयोग ही बाह्य अर्थों (पदार्थों या वस्तुओं) के प्रतिषेधार्थ किया गया है। चित्र, मनस, विज्ञान, विज्ञापित आदि पारमार्थिक स्तर पर पर्याय हैं। जिस प्रकार पीलियाग्रस्त रोगी को सब पदार्थ पीले दिखायी. देते हैं या जिस प्रकार दृष्टिदोष से नेत्रों के आगे के केशवत (बालों के समान) पतले–पतले छोटे पदार्थ उडते हुए से दिखते हैं या एक चन्द्र के स्थान पर दो चन्द्र दिखायी देते हैं, उसी प्रकार अविद्याग्रस्त प्राणियों को बाह्य पदार्थों की प्रतीति होती है। बाह्यअर्थ शशश्रंग या खपुष्प के समान नितान्त असत् या परिकल्पित है। अतः विज्ञदितमात्रता सिद्ध है।

विज्ञप्ति मात्रमेवेत दस दथविभासनात्

यथा तेमिरिकस्यास हमेशचन्द्रादिदर्शनम् ॥[2]

बाह्य मानस पदार्थों की सत्ता का सम्बन्धः 'विंशतिका' में आचार्य वसुबन्धु कहते हैं कि महायान त्रैधातुक को विज्ञप्तिमात्र मानता है। कामलोक, रुपलोक और अरुपलोक की त्रिलोकी या त्रिधातु विज्ञप्ति या विज्ञान के विविध आमासों का विजृम्भण मात्र है। पदार्थों की चाहें वे बाह्य हो या मानस कोई सत्ता नहीं है। बाह्य पदार्थों में जगत के जड़ पदार्थ आते हैं और मानस पदार्थों में जीवात्मा, प्रमाता, या पुद्गल आते हैं। यद्यपि मनोभावों या चित्त वृत्तियों को भी प्रभाता विषय के कप में ग्रहण करता है, तथापि ये पदार्थ या द्रव्य नहीं है, किन्तु चित्ताकार विज्ञान या मनोविज्ञान है। पुद्गल या प्रमाता भी स्वसंवेदन का विषय बनता है किन्तु प्रमुख रूप में यह 'विषयी' या ज्ञाता (शुद्ध ज्ञाता नहीं, अपितु अविद्याजन्य प्रभाता) है जिसे पदार्थ के रूप में माना जाता है। कर्ता एवं भोक्ता स्वीकार किया जाता है। किन्तु ऐसा कोई चेतन द्रव्य नहीं है। विज्ञान सन्तान पर इसका आरोप या उपचार किया जाता है। चेतन होने के कारण इसका विज्ञान में विलय मान लेना अपेक्षाकृत उतना कठिन नहीं है जितना जड़ जगत के बाह्य पदार्थों को विज्ञान रूप मान लेना। अतः विज्ञानवाद का मुख्य लक्ष्य बाह्य जड़ पदार्थों का खण्डन करके उन्हें विज्ञानों के आकार मात्र सिद्ध करना है।

आत्मा और धर्म संबधी जो विविध उपचार किये जाते हैं, वे विज्ञान परिणाम के अंतर्गत हैं। समस्त उपचार विज्ञान परिणाम में ही होते हैं। आत्मा और धर्म का अभाव है। परिणाम का अर्थ है अन्य रूप में

2

© Copyright @ Authors

हो जाना, विज्ञान परिणाम के बाहर आत्मा एवं धर्म का अभाव है। अर्थात कारणक्षण के विनाशकाल में ही कार्यक्षण की उत्पत्ति परिणाम है। विज्ञान स्वरूपतः प्रवाह रूप है। जिस प्रकार सरित प्रवाह में एक तरंग उठती है, विलीन होती है तथा विलीन होते हुए भी एक नयी तरंग की सृष्टि करती है। पुनः वह तरंग भी विलीन होकर एक तृतीय तरंग का कारण बनती है। इस प्रकार कारण कार्य भाव से आबद्ध जलप्रवाह का तारतम्य देखा जाता है। ठीक इसी अर्थ में विज्ञान की प्रवाहमयता है। इसकी यह प्रभावशीलता या प्रतीत्यसमुत्पन्नता ही परिणाम शब्द से ज्ञापित है। ये जो विविध प्रकार के आत्मोपचार या धर्मेपंचार होते हैं, वे विज्ञान परिणाम के अंतर्गत हैं। इस तथ्य को लक्ष्य करके प्रश्न होता है कि उन विषयों का बाह्य अस्तित्व है, नहीं, तो उसका वैसा ज्ञान क्यों होता है?

इसका उत्तर है, ऐसी प्रतीति वासना के कारण होती है। अनादिकाल से कर्म वासनाओं का संचय आलय विद्वाना में होता आ रहा है। ऐसी आत्मादि रूपादि – विकल्पवासना तथा रूपादि विकलपवासना की परिपुष्टि के कारण आलय विज्ञान से आत्मादि के आकार वाले तथा रूपादि के आकार वाले विकल्प उत्पन्न होते हैं। उन आत्मादि तथा रूपादि प्रतीतियों को वैसे विकल्पों से पृथक जैसा मानकर आत्मादि तथा रूपादि धर्मों का आरोप अनादि काल से उन धर्मों के बाह्य अस्तित्व के बिना ही होता आ रहा है। उनके बाह्य अस्तित्व के बिना ही तद्वत अनुभूति का होना वैसा ही है, जैसे तिमिर व्याधि से ग्रस्त मनुष्य को केशगुच्छादि के दर्शन होते हैं, जो वस्तुतः विद्यमान नहीं है। इससे यह फलित होता है कि सभी प्रतीतियाँ वासनाजनित भ्रान्ति है।। विज्ञान के अतिरिक्त आत्मा या धर्मो का कहीं अस्तित्व नहीं है।

इस पर पुनः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह कैसे जाना जाय कि बाह्य

आलम्बन असत् है ? यह क्यों मान लिया जाय कि विज्ञान विषय से निरपेक्ष होकर उत्पन्न होता है? इसका उत्तर यह है कि ऐसा अनुभव से सिद्ध है। बात यह है कि जो जिसका कारण है उसके समग्र एवं अविरुद्ध होने पर कार्य की उत्पत्ति होती हैं, दूसरों से नहीं। यदि विज्ञान की उत्पत्ति बाह्य आलम्बनों पर निर्भर है तो उनके विद्यमान रहने पर ही विज्ञान को होना चाहिए। पर ? देखा जाता है कि माया, गन्धर्व नगर आदि असत हैं। उनमें सत आलम्बन के अभाव में भी तद्विषयक विज्ञान उत्पन्न होता है। यदि विज्ञान की उत्पत्ति आलम्बन पर निर्भर करती तो गायादि वस्तुओं के न होने के कारण तदाकार विज्ञान नहीं होता। यस्मात् वस्तु के असत् होने पर इसका होना सिद्ध है, अतः यह फलित होता है कि विज्ञान बाह्य आलम्बन पर निर्भर नहीं करता। यह विषय निरपेक्ष वासना के कारण होता है।

इस मान्यता पर पुनः कुछ लोग संभवतः शून्यवादी ऐसा आक्षेप करते है कि जिस प्रकार ज्ञेय पदार्थ अस्तित्व विरहित हैं, उसी प्रकार ज्ञान को भी समझना चाहिए। इसके परिहार में कहा जा सकता है कि यदि ज्ञान भी नहीं है तो भ्रान्ति होती किसमें है? भ्रान्ति होने का भी तो आधार होना चाहिए। अतः विज्ञान परिणाम को तो अवश्य वास्तविक मानना चाहिए जिसके अंतर्गत आत्मा एव धर्म उपचार होते हैं। विशेयेक्त विज्ञान को भी सांवृत्तिक मानने से विशेषों का सांवृत्तिकप में भी अभाव प्राप्त होने लगेगा।

वस्तुवादियों के अनुसार बाह्य अर्थों की स्वतंतक सत्ता है। ये अर्थ सम्वेदन उत्पन्न करते हैं जिन्हें हम इन्द्रियों द्रवारा ग्रहीत करते हैं और जिन्हे हम बुध्दि विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में परिणत करते हैं। हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान बाह्य अर्थों पर निर्भर है। अर्थ के या बाह्य विषय के बिना ज्ञान संभव नहीं हैं। न चाईवषया काचिदुपलब्धिः । बुद्धि या ज्ञान का कार्य अर्थ को प्रकाशित करना है। ज्ञान बाह्य अर्थ को किसी प्रकार प्रभावित या परिवर्तित नहीं कर सकता । अर्थ की ज्ञातता या अज्ञानता से अर्थ के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। वस्तुवाद के दो मुख्य सिद्धांत है। – एक तो यह कि वस्तु या पदार्थ (अर्थ) की अपनी स्वतंत्र सत्ता है जो विज्ञान के बाहर है और विज्ञान से भिन्न है। और दूसरा यह कि अर्थ विज्ञान को उत्पन्न करता है और –

यह विज्ञान यथा अर्थ (यथार्थ) या अर्थ के अनुरूप होता है– 'यथार्थ सर्व विज्ञानम्'। विज्ञानवाद वस्तुवाद के इन दोनों सिद्धातों का खण्डन करता है। उसके अनुसार अर्थ की कोई सत्ता नहीं है, न अर्थ स्वतंत्र है, न विज्ञानबाध्य है, और न विज्ञान से भिन्न है। पुनश्च, अर्थ असत होने से विज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता, अपितु विज्ञान ही अर्थ का आकार लेकर प्रतीति होता है।

© Copyright @ Authors

ISSN: 2249-040X
Peer Reviewed & Refereed Journal (IF: 6.25)
Journal Website www.academejournal.in

यदविज्ञेय रूपं तद बहिर्वद भासते।[3]

उत्पादशक्ति अर्थ करित्व, क्रिया सामर्थ्य केवल विज्ञान में ही संभव है। तथाकथित जड़ द्रव्य में नहीं। वसुबन्धु कहते हैं कि वस्तुवादी चार तर्कों के आधार पर बाह्य पदार्थों की सत्ता सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। ये चार तर्क हैं– देशनियम, कालनियम, सन्तान नियम और कृत्य किया। विज्ञानवाद की मान्यता के अनुसार, जब विज्ञान ही एकमात्र सत् है पदार्थ है, बाह्य विषयों का वस्तुतः कुछ भी अस्तित्व नहीं है, तो प्रश्न यह होता है। कि ऐसी दशा में देश के नियम, काल के नियम, ज्ञातृसन्तान के अनियम तथा क्रियासम्पादन संबंधी नियमों का निर्वाह कैसे होता है ?

"यदि विज्ञप्ति नियमों देशकालयोः।

सन्तान स्याड नियमश्च युक्ता कृत्यक्रियाजच।।"[4]

देश के नियम से स्थानगत नियम अभिप्रेत है। वह इस प्रकार हैं। जब कभी भी किसी विषय का ज्ञान होता है तो वह किसी देश अर्थात स्थान विशेष से सम्बंधित होकर ही होता है। यथा सूर्य का ज्ञान आकाश में प्रकाशमान होते हुए होता है। वृक्षों का ज्ञान पृथ्वी पर स्थित होता है। अतः जब विषयों को काई अस्तित्व नहीं है तो इन विषयों का शान सर्वत्र होना चाहिए। क्यों सूर्य का ज्ञान आकाश में होता है, सर्वत्र नहीं? वृक्ष पृथ्वी पर ही क्यों देखे जाते हैं सर्वत्र नहीं ? विषयों के असत होने से जब विज्ञान उनकी किसी प्रकार अपेक्षा नहीं करता तो उसके होने में स्थान सम्बन्धी कोई नियम नहीं होना चाहिए। अतः वस्तू के अभाव में नियम को स्वीकार करते हुए देशगत नियम का निर्वाह कैसे होता है?

काल संबधी नियम इस प्रकार है। जब कभी भी किसी विषय का ज्ञान होता है तो वह किसी काल विशेष में ही होता है। सूर्य के प्रकाशमान होने का ज्ञान दिन में होता है। चन्द्रमा के चाँदनी का ज्ञान रात में होता है। जब वस्तुस्थित ऐसी होती है कि किसी भी बाह्य वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है, सूर्य, चन्द्र आदि असत पदार्थ हैं, तो उनका ज्ञान समय होना चाहिए। अतः प्रश्न है कि विज्ञान की सत् स्वीकृ ति पर काल के नियम का निर्वाह कैसे होता. है ? इसके अतिरिक्त जिस स्थान पर नील आदि दिखलायी भी पड़ते हैं, वहाँ भी वे सर्वत दिखलाजी नहीं पडते, अपितू कभी–कभी ही दिखलायी पड़ते हैं। यदि विज्ञान ही नील आदि के रूप में आसित होता है, अथवा नील बुद्धि बाह्य अर्थ की अपेक्षा नहीं करती तो लिस प्रकार बुध्दि सर्वदा विद्यमान रहती है, उसी प्रकार नीलाभास भी सर्वदा होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता। इसके विपरीत लोक में यह नियम देखा जाता है कि नीलामास एक नियत काल में ही होता है।

तृतीय प्रश्न ज्ञातृ सन्तान के अनियम का है। जिससमय और जिस स्थान पर नील आदि बुद्धियाँ उत्पन्न होती है, उस स्थान पर और उस समय जितने सब उपस्थित होते हैं सभी को वे बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, न कि किसी एक व्यक्ति को। यदि नील आदि बुध्दियों का होना, बाह्य चीज पर आसित नहीं है और जीव को अपनी संतान में स्थित ज्ञान ही नील आदि के रूप में भासित होता है तो वह नीलाभास वहाँ उपस्थित सभी व्यक्तियों को नहीं प्रतीत होना चाहिए। जिस प्रकार जो व्यक्ति तिमिर रोग से ग्रस्त होता है उसे ही केशोदमुच्छू आदि दिखाई पड़ते हैं, ठीक उसी स्थान पर और उसी समय वहाँ उपस्थित उन पुरुषों को वे (केशोदमुच्छू) दिखलायी नहीं पड़ते जिन्हें तिमिर रोग नहीं है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति की सन्तान में नीलाभास उत्पन्न होने का कारण विद्यमान होता है केवल उसी व्यक्ति को नीलाकार दिखलायी पड़ना चाहिए अन्य को नहीं । किन्तु लोक में यह निश्चित है कि जिस स्थान पर और जिस समय नीलाभास होता है, उस स्थान पर उस समय जितने प्रकाष उपस्थित होते हैं, उन सभी व्यक्तियों को सामान्य रूप से नीलाकार दिखलायी पड़ता है। यदि बाह्य नील सत नहीं है तो यह सन्तान का अनियग नहीं बन पायेगा। यहाँ नियम से तात्पर्य है – सबकी सन्तान में न होकर एक निश्चित या विशेष सन्तान में ही ज्ञान का उत्पाद होना।

[3] आलम्बन परीक्षा कारिका 6
[4] विंशंतिका कारिका–4

© Copyright @ Authors

इस प्रकार बाह्यार्थवादियों द्वारा उपर्युक्त तीन प्रसंग उपस्थित किये गये। ज्ञान का एक नियतदेश होना देश नियम, एक नियत काल में होना कालनियम, नियत सन्तान में ही होना सन्तान नियम तथा समान देश और समान काल में स्थित सभी व्यक्तियों की सन्तान में होना सन्तान अत्रिगम कहलाता है। विज्ञान वादियों द्वारा बाह्य अर्थ न मानने पर बाह्यार्थवादी पर आक्षेप करते हैं कि आप के मत में उपर्युक्त देशनियम, कालनियम और सन्तान अनियम की व्यवस्था न हो सकेगी।

वस्तुवादियों का चौथा आक्षेप कृत्यक्रिया के अभाव के प्रसंग से सम्बंधित है। यह अनुमत में देखा जाता है कि जिसका ज्ञान भ्रमात्मक है, उस भ्रम में विजयीभूत वस्तु से यशोचित अर्थ क्रियाकारित्व नहीं होता। रज्जू के भ्रमवश सर्प का ज्ञान होता है। उस ज्ञान का विजयीभूत एवं दंशन क्रिया नहीं कर सकता। शुक्तिका में प्रतीयमान (भ्रमवश) रजत से अभूषण निर्माण नहीं कर सकता। न तो भ्रगमारीचि के जल से स्नानपाना दिकृत्य किया जा सकता है। न तो खागे विष से किसी की मृत्यु हो सकती है। इस आधार पर तो बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व का सर्वथा अभाव नहीं दर्शाया जा सकता है। बाह्य वस्तु जनित कार्य तो सबको अनुभवगम्य हैं। यदि बाह्य अर्थ सत् नहीं है तो ऐसी स्थित में स्वप्न में जो खादय, पेय, परिधान, विष और शस्त्र आदि देखे जाते हैं उनसे भी क्रमशः उस्मरण, तृप्ति, शीत, ताप से रक्षा, मरण और छेदन आदि क्रियायें होनी चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता। इसके विपरीत स्वप्न से मिल जागृत अवस्था में देखे गये खाद्य, पेय आदि से भी उपर्युक्त क्रियागे होती देशी देखी जाती हैं। यदि बाह्य अर्थ सब नहीं है तो गंधर्व नगर से भी नगर की आरक्षण आदि सभी अभिक्रियायें होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। इसके विपरीत गंधर्व नगर से भिन्न प्रयाग आदि नगरों से ही सारी नगर क्रियायें होती देखी जाती हैं। अतः प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब बाह्य वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है तो सतु वस्तु से क्रिया के होने तथा असत वस्तु से न होने का जो अनुभव है उसकी व्याख्या कैसी की जा सकती है। विषय से निरपेक्ष विज्ञानवाद को सत्य मानने पर ये चार प्रश्न सामान्यतया किसी भी जिज्ञासु मन को उद्वेलित कर उठते हैं। वस्तुवादी इन्हें विज्ञानवाद पर आक्षेप रूप में रखते हैं। अतः उनका विज्ञानवाद में परिहार किस रूप में प्राप्त है यहाँ उसका उल्लेख है

देशादि नियम : सिद्धः स्वप्नवत प्रेत पुनः ।

सन्तानानियमः सर्वेः पूयन द्यादिदर्शने।।

प्रथम नियम जो देश नियम है उसके संबंध में कहा जाता है कि वस्तु के न रहने पर भी देश के नियम का निर्वाह हो सकता है। उदाहरणतः स्वप्न को लिया जा सकती है। स्वप्न में वस्तु का अभाव रहता है, पर उसकी प्रतीति में देश के नियम का व्याभिचार नहीं होता। स्वप्न में भी सूर्य का ज्ञान आकाश में ही होता है। फलतादि पृथ्वी पर ही स्थित देखे जाते हैं। इस प्रकार बसुबन्धु का उत्तर है कि देशनियम स्वप्न में भी पाया जाता है जहाँ पर वस्तुवादी भी बाह्य अर्थों की सत्ता स्वीकार नहीं करता। स्वप्न में अर्थ के बिना भी किसी देशविशेष में ही कुछ नगर उद्यान, स्त्री, पुरुष, आदि दिखलायी पड़ते हैं, सब जगह नहीं।

द्वितीय प्रश्न का समाधान भी स्वपन की अनुभूतियों पर आधृत है। स्वप्न में विषय की उपस्थित नहीं रहती पर इसका ज्ञान काल के नियम से आबद्ध होकर ही रहता है। जब कभी भी किसी को सूर्य से प्रकाशित होने का ज्ञान होता है तो उसका काल दिन ही रहता है तथा चन्द्रमा का काल रात। यहाँ जिस न्याय से स्वप्न में बस्तु का अभाव होने पर भी काल के नियम का निर्वाह सिद्ध है, उसी प्रकार जाग्रत में भी समझना चाहिए। स्वप्न में जब किसी स्थान विशेष में नगर दिखलायी पड़ता है तब उस नगर का आभास एक निश्चित काल में होता है। ऐसा नहीं होता कि वह हर समय (सर्वदा) दिखलायी देता हो।

तृतीय प्रश्न अर्थात ज्ञातृसन्तान के अनियम का समाधान कर्मसिद्धांत के सहारे उत्पादित है। कुशल कर्मों का विपाक कुशल तथा अकुशल कर्मों का अकुशल होता है। कुशल विपाक के अनुसार स्वर्ग तथा अकुशल विपाक के कारण नरक जाने की मान्यता प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि पापकर्म करने वाले मनुष्य मरणोपरान्त नरक में उत्पन्न हो पीत से भरी नदी का दर्शन करते हैं। मनुष्यों में विविधता हो

© Copyright @ Authors

सकती है पर समान पापकर्मों के फलस्वरूप नरक में पूयपूर्ण नदी तथा दण्डधारी नरकपालों का दर्शन समान रूप से करते हैं। नरक में उत्पन्न होकर नारकीय वस्तुओं के दर्शन की बात परवादी को भी मान्य है। पर वास्तविकता यह हैं कि पूयपूर्ण नदी तथा नरकपालादि असत् हैं। उनके असत् होने पर भी तदाकार विज्ञान का होना इष्ट है। यस्मात ऐसा ज्ञान असंख्य नरकगामी सत्वों को युगपद होता है, अतः इसप्रकार की अनुभूति को भ्रामक नहीं कहा जा सकता। फलतः सिद्ध होता है कि वस्तु के अभाव में ज्ञात सन्तान के अनियम की व्याख्या उपलब्ध है।

अर्थक्रियाकारित्व से सम्बन्ध रखने वाला चतुर्थ प्रश्न है। इसका समाधान भी स्वप्न की अनुभूतियों के आधार पर देखा जाता है। विंशतिका की चतुर्थ कारिका में वसुबन्धु ने उपर्युक्त प्रश्न का समाधान इस प्रकार किया है।

स्वप्नोचधातवत् कृत्यक्रिया नरकवतपुनः ।[5]

सर्व नरक पालादिदर्शने तैश्च बधने ।।

अर्थात स्वप्नोघात के समान कृत्यक्रिया (अर्थ–क्रियाकारित्व) भी सिद्ध है। बाह्य अर्थ के न होने पर भी कृ त्यक्रिया सयुक्ति सिद्ध है। इसे समझाने के लिए स्वनोधात का दृष्टान्त दिया गया है। यथा स्वप्न में स्त्रीपुरुष का समागम नहीं होता, फिर भी स्त्री से संसर्ग या समागम का आभास होता है और फलस्वरूप शुक्रपात होता है। स्वपनावस्था में होने वाली इस शुक्रविसर्ग क्रिया के विषयभूत स्त्रीपुरुषादि असत् है। जिसप्रकार यह शुक्र विसर्गक्रिया होती है (स्त्रीपुरुष के वास्तविक समागम के बिना) ठीक उसी प्रकार खाद्य, पेय, नगर, विष आयुध आदि के बाह्य सत् न होने पर भी क्रमशः उनकी बन्धन, देश, बेधन आदि सारी अर्थक्रियायें सिद्ध हैं।

अब तक तो पृथक–2 आक्षेपों के लिए पृथक–2. दृष्टान्त दिये गये थे, किन्तु यहाँ पुर्वोक्त चारों आक्षेपों के लिए एक ही दृष्टान्त दिया गया है। जिस प्रकार नरक में देशनियम, कालनियम, ज्ञातृ सन्ताननियम और कृत्यक्रिया ये चारों व्यवस्थायें सम्पन्न होती हैं, उसी प्रकार बाह्य अर्थ के न होने पर जागतिक व्यवहार में सारी व्यवस्थायें सिद्ध हैं। जैसे नरक में बाह्य अर्थों के ना होने पर भी नारकीय सत्वों को वहां नरकपाल, स्थाली, कटाह आदि पदार्थ दिखलायी पड़ते हैं। इससे नरक में वाह्य नरकपाल आदि के न होने पर भी देशनियम सिद्ध होता है तथा वहाँ उपस्थित सभी नारकीयों को केवल उसी समय ही वे सब दिखलायी पडते हैं. हमेशा नहीं। उससे नरक में बाह्य अर्थों के बिना काल नियम भी सिद्ध होता है। उपयुक्त नरकपाल आदि का प्रतिभास समान्य रूप से वहाँ उपस्थित सभी सत्वों की सन्तान में होता है, ऐसा नहीं है कि किसी नियत सत्व की सन्तान में ही होता हो। इस प्रकार वहाँ बाह्य अर्थ के न होने पर भी सन्तान नियम सिद्ध है।

बाह्य नरकपालों आदि के न होने पर भी उनके प्रतिभास द्वारा नारकीयों को भयंकर पीड़ा का अनुभव होता है। इसका कारण उनके द्वारा पूर्वजन्मों में किये गये नाना प्रकार के दुष्कर्म हैं। इतना ही नहीं, वे नरकवाल उन्हें आदेश देते हुए और फैसला करते हुए भी प्रतीत होते हैं। इस प्रकार बिना किसी बाह्य अर्थ के कृत्य किया सुसंगत सिद्ध होती है।

वैमाषिक सिधान्तवादी नरक में स्थित श्वान, वायस एवं नरकपालों को जीव मानते हैं तथा उनकी वास्तविक सत्ता स्वीकार करते हैं। इसपर प्रश्न यह होता है कि यह क्यों मान लिया जाय कि वे भी वास्तविक है। वैभाषिक यह नहीं मानते कि नरकपाल आदि विज्ञान के आभाषमान हैं या विज्ञान से बाहर जीव के रूप में उनकी कोई पृथक सत्ता नहीं है।

वैभाषिकों के उपर्युक्त प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि नरकपाल, श्वान आदि का सत्व होना युक्ति संगत नहीं है। यदि वे नारकीय राज्य होते तो उन्हें भी वैसे ही दुःखानुभूति होनी चाहिए थी, जिस प्रकार अन्य नरकस्थ जीवों को होती है। किन्तु उन्हें उस प्रकार की दुःखानुभूति नहीं होती

[5] विंशतिका कारिका–4

© Copyright @ Authors

अपित ऐसा प्रतीत होता है कि वे केवल दूसरों को ही दुःख देते हैं और जो दुःख देने वाले हैं उन्हें वह दुःख नहीं होता। तथा उन नरकपालों आदि को दुःख देने वाला कोई व्यक्ति वहाँ उपस्थित भी नहीं होता। फलतः वे नारकीय सत्व नहीं है– यह सिद्ध होता है। नारकीयों की भाँति नरकपालादि विभिन्न प्रकार की यंत्रणाओं का अनुभव नहीं करते।

इस पर वैयाषिक एक अन्य संभावना प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि ऐसा हो सकता है कि यान्त्रणा देने का कार्य परस्पर होता हो अर्थात नारकीय नरकपालादि को यंत्रणा देते हैं तथा नरकपालादि नारकीयों को दुःख देते हैं। तो यह भी युक्त नहीं है, ऐसा वसुबन्धु कहते हैं। वसुबन्धु कहते हैं कि यदि जो नरकपाल हैं वे भी भी दुखी हैं तथा जो नारकीय हैं ते भी दुःखी है तो ऐसी स्थित में तो नरकपाल एवं नारकीयों में भेद ही नहीं रह जायेगा। दोनों तो तुल्याकृति, तुल्यप्रमाण एवं तुल्यवल हो जायेंगे। जबकि प्रसिद्ध तो ऐसा है कि नरक में जाने वाले जीव अपने सामने अत्यंत भंयकर, अत्यधिक बलवान नरकपालों को देखकर भय से काँपने लगते हैं।

कहा जाता है कि किसी भी पदार्थ के अस्तिभाव तथा नास्तिभाव का निर्धारण प्रमाण के द्ववारा किया जाता है। प्रमाणों में प्रत्यक्ष ज्येष्ट प्रमाण है। जिस वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है उसे मिथ्या कैसे कहा जा सकता है? घट, पट, रथ आदि वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं। इनका प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध है। अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि ये मिथ्या हैं इसके विपरीत इनसे वस्तुओं की के अस्तित्व की सिद्धि हो जाती है।

इसका उत्तर देते हुए वसुबन्धु कहते हैं –

प्रत्यक्ष बुद्धिः स्वप्नार्दो यथा सा च यक्ष तदा

न सोऽर्थो दृश्यते तस्य प्रत्यक्षत्वं कथं मतम् ।।[6]

अर्थात जिसप्रकार स्वप्न आदि अवस्था में बिना बाह्य वस्तु के प्रत्यक्ष होता है वैसे ही जागृत अवस्था में विज्ञान ही अर्थ के रूप में अवभासित होता है और उसी से सारी प्रक्रिया बन जाती है।

विज्ञानवादी आचार्य वसुबन्धु बाह्यार्थवादी सौत्रान्तिको पर प्रहार करते हुए कहते हैं कि कि आप यह मानते हैं कि रूप चक्षुविज्ञान का आलम्बन प्रत्यय हैं और वह चक्षुविज्ञान से प्रथम क्षण में होता है यह चक्षुविज्ञान द्वितीय क्षण में उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा उस रूप का दर्शन होता है। जिस क्षण में चक्षुविज्ञान उत्पन्न होता है, उस क्षण में यह बुद्धि उत्पन्न नहीं होती कि हमारा चक्षुविज्ञान रूप को देख रहा है, अपितु ऐसी बुध्दि तब उत्पन्न होती है, जब पूर्ववर्ती चक्षुविज्ञान के द्वारा दृष्ट वस्तु का चिन्तन किया जा रहा होता है। अतः वह (प्रत्यक्ष) बुद्धि तृतीय क्षण में उत्पन्न होती है। फलतः जिस क्षण में वह बुद्धि उत्पन्न होती है, उस क्षण में वह रूप दिखलायी नहीं देता, जिस रूप को आपने बाह्य अर्थ माना है। क्योंकि जब मनोविज्ञान द्वारा विषय का परिच्छेद होता है, उस समय चक्षुविज्ञान निरुद्ध हो चुकता है और वह रूप भी जिसे चक्षुविज्ञान का हेतु स्वीकार किया है। फलतः उस मनोविज्ञान द्वारा बाह्य रूप का ग्रहण नहीं हो सकता और न तो चक्षुविज्ञान के द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि दोनों के समय बाह्य रूप निरुद्ध रहता है। दूसरी बात यह है कि जब चक्षुविज्ञान रूप का दर्शन करता है, उस समय वह निर्विकल्पक होता है, अतः उसमें बाह्य अर्थ के निर्धारित करने की कोई सामर्थ्य भी नहीं रहती।

यदि सौमान्तिक कहें कि अर्थ कालान्तर में भी स्थित रहता है और पश्चात प्रत्यक्ष द्वारा उसी का ग्रहण होता है तो भी उनकी दोष से मुक्ति नहीं है! यदि रूप आदि बाह्य अर्थ कालान्तर में अर्थात द्वितीय आदि क्षण में स्थित रहे तब तो उनका पश्चात ग्रहण संभव है, किन्तु वे चूँकि क्षणिक है, अतः में स्थित नहीं रह सकते। फलतः क्षणिकवाद में बाह्य अर्थ का प्रत्यक्षतः ग्रहण अत्यंन्त असंभव है । जिस क्षण में रूप, रस आदि ग्राह्य विद्यमान होते हैं, उस क्षण में ग्राहक प्रत्यक्ष नहीं होता और जब ग्राहक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है उस क्षण में रूप रस आदि ग्राह्य निकद्ध हो जाते हैं।

[6] 1. विंशतिका कारण्क–16.

© Copyright @ Authors

उपर्युक्त तर्क के उत्तर में सौत्रान्तिक कहते है कि प्रत्यक्षतः जिस विषय का अनुभव नहीं किया जाता, उस वस्तु का मनोविज्ञान द्वारा स्मरण भी नहीं हो सकता। बाह्य नील, पीत आदि का मनोविज्ञान द्वारा स्मरण होता है इसलिए नील, पीत आदि बाह्य अर्थ का निःसन्देह प्रत्यक्ष द्वारा अनुभव हुआ था यह मानना पड़ेगा। फलतः हमारा बाह्यार्थ का सिद्धांत अक्षुन्ण है।

इसका उत्तर देते हुए विज्ञानवादी कहते हैं कि विज्ञान से अतिरिक्त अर्थों का स्मरण होता है, यह बात हमें मान्य नहीं है। जिस प्रकार बिना बाह्य अर्थो के रूप विज्ञप्ति आदि विज्ञाप्तियाँ हो सकती हैं, उसी प्रकार उस रूप विज्ञप्ति आदि से वह मनो विज्ञान भी उत्पन्न हो सकता है जो स्मृति से सम्प्रयुक्त होता है। अतः स्मृति के आधार पर बाह्यार्थ स्मृति को सिद्ध नहीं किया जा सकता। फलतः बाह्य अर्थ पूर्व अनूभव है यह सिद्ध नहीं होता।

निष्कर्षतः बाह्य पदार्थों के अभाव में उसकी सत्ता नहीं मानी जा सकती। विज्ञानवादी विशुद्ध प्रत्ययवादी है। उनकी दृष्टि में भौतिक पदार्थ पूर्णतः असिद्ध हैं। विज्ञान अपनी सत्ता के लिए कोई अवलम्बन नहीं चाहता। वह अवलम्बन के बिना ही सिद्ध है। यहाँ जिस 'वस्तुस्वभाव' के आधार पर वस्तुजगत की सत्ता स्वीकार की जाती है. उसी स्वभाव की शून्यता अर्थात निः स्वभावता दर्शाकर बाधार्थ का खण्डन किया गया है। वस्तुतः विज्ञानवादीयों ने दो स्तर पर विज्ञान की सत्ता मानी है । (1) संवृत्ति सत्य (२) परमार्थसत्य । परन्तु ध्यान रखने योग्य बात सिर्फ इतनी है कि सांकृतिक या व्यवहारिक सत्य का आधार भी परमार्थ ही है। भेद का कारण तो वाराना है जिसका आधार आलय विज्ञान है। जिसकी व्याख्या त्रिंशिका में की गई है। उपरोक्त वर्णित युक्तियों में विज्ञानवादी की स्थिति स्वप्न की अपेक्षा भ्रान्ति की के दृष्टान्त पर अधिक दृढ़ है। स्वप्न और जागृत की स्थिति में विज्ञान या चित्त की मात्रा का भेद मान लेने पर इसमें कोई दोष नहीं दिखता। विज्ञानवाद की स्थापना में मुख्य बात ज्ञान की उस क्रिया से है जिसे अवलम्बन की आवश्यकता ही नहीं। ज्ञान की अपेक्षाएँ जब विज्ञानमात्र तक ही सीमित है तो वाह्यार्थ सिर्फ सांस्कृतिक सत्य तक ही आपेक्षित है । अन्त में:

चित्तं वर्तने चित्तं चिन्तमेव विमुच्यते।

चित्तं हि जायते नान्यश्चित्त मेव निरुध्यते। (लंकावतारसूत्र)

वसुबन्धु ने भी :विज्ञप्ति मात्रतासिद्धि में इसी तत्व की मार्मिक विवेचना प्रस्तुत की है।

संदर्भ ग्रन्थ–सूची।

(1) आचार्य, नरेन्द्र देव — बौद्ध धर्म दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, (1956)

(2) तिवारी, महेश — विज्ञप्तिमानता सिद्धि (वसुबन्धु) चौखम्मा विद्याभवन, वाराणसी, (1967)

(3) शर्मा, चन्द्रघर — बौद्ध दर्शन और वेदान्त विजन–विभुति प्रकाशन, इलाहाबाद (1994)

(4) शर्मा, चन्द्रहार — भारतीय दर्शन मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली, (1990, 1994)

(5) त्रिपाठी, पं रामशंकर — विज्ञप्ति मात्रतासिद्धि प्रकरण द्वयम,

© Copyright @ Authors

ISSN: 2249-040X
Peer Reviewed & Refereed Journal (IF: 6.25)
Journal Website www.academejournal.in

शास्त्री, ध्रुवतन छोगडुव — प्रकाशन विभाग
वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी – (1972)

(6) त्रिपाठी, प्रो. रामशंकर — चित्तमात्रता एवं बौद्ध प्रमाण व्यवस्था
तिस्वत हाउस, नई दिल्ली (1989)

(7) त्रिपाठी, डा. छोटेलाल — दार्शनिक चिन्तन
सरस्वती प्रकाशन – इलाहाबाद, (1996)

(8) Chatterjee, Ashok Kumar — THE YOGACHARA IDEALISM, MOTILAL BANARSI DASS, DELHI (1975)

(9) Kalupahana, David J. — THE PRINCIPALES OF BUDDHIST PSYCHOLOGY,
SRT- SATGURU PUBLICATIONS-
DELHI (1992)

(10) Upadhyaya, A charya Baladeva- — BAUDHA D ARSANA NIMANSA,
CHOWKHAMBA VIDYA BHAWAN, VARANASI

© Copyright @ Authors